

## राष्ट्रीय शिक्षाक्रम योजना – कुछ टिप्पणियां

□ रोहित धनकर

अनुवाद - देवयानी

‘विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा’ (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद द्वारा बहस के लिए जारी) दस्तावेज पर हमने अब तक कई गंभीर प्रतिक्रियाएं प्रकाशित की हैं। इस शृंखला में रोहित धनकर का प्रस्तुत आलेख दस्तावेज की अनेक मूलभूत स्थापनाओं को ही प्रश्नांकित नहीं करता, बल्कि राज्य और व्यक्ति के संबंधों के मध्य शिक्षा की अवस्थिति, पाठ्यचर्या के विशद परिप्रेक्ष्य और बहुलवादी राष्ट्र के शिक्षा सरोकारों से संदर्भित निष्पत्तियों की रोशनी में इस दस्तावेज की पड़ताल करता है। यही नहीं, सत्ता प्रतिष्ठानों द्वारा आयोजित बहस की मूल-भावना और उसके निहितार्थों को भी यहां विचार के दायरे में लाया गया है।

### दस्तावेज का सामान्य ढांचा तथा संघटन

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद 1988 के ‘द नेशनल करिकुलम फॉर एलिमेन्टरी एंड सैकण्डरी एजुकेशन : अ फ्रेमवर्क’ की समीक्षा कर रही है और उसने एक नया दस्तावेज ‘विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा’ तैयार किया है। इस नए दस्तावेज पर अनेक सेमिनारों तथा कार्यशालाओं में विभिन्न स्तरों पर चर्चा की जा रही है। कुछ समय पहले तक परिषद एक अन्य दस्तावेज ‘द प्राइमरी इयर्स : टुवर्ड्स अ करिकुलम फ्रेमवर्क’ पर चर्चा करा रही थी। केवल शिक्षाक्रम में ढांचे भर के रूप में नहीं बल्कि एक पूर्ण शिक्षाक्रम दस्तावेजों के रूप में पेश किया गया था। और इससे भी पहले प्राथमिक स्तर पर न्यूनतम अधिगम स्तर नाम के एक दस्तावेज पर राष्ट्रव्यापी बहस चलाई जा रही थी। यह न तो शिक्षाक्रम ढांचा था, न शिक्षाक्रम और न कोई पाठ्यक्रम ही था बल्कि एक ऐसा दस्तावेज था जो सीखने के परिणाम या जैसा कि अनेक बार कहा जाता है, प्राथमिक शिक्षा के राष्ट्रीय मानक, सुझा रहा था। इसी दौरान राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्थान, उदयपुर ने भी अपने कुछ पसंदीदा लोगों के साथ ‘जनसम्मत शिक्षाक्रम’ नामक दस्तावेज पर चर्चा कराई है। मेरा विश्वास है कि अन्य राज्यों में सक्रिय अन्यानेक एजेंसियां भी इस बीच चुप बैठी नहीं रही होंगी और वे भी अपने शिक्षाक्रम में सुधार के प्रयासों में जुटी रही होंगी। शिक्षाक्रम को लेकर यह सारी सक्रियता बहुत सकारात्मक लगती है। मेरे विचार में शिक्षाक्रम की समीक्षा प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता के सुधार की इस दिशा में पहला कदम होगा। लेकिन किसी व्यापक आम सहमति तक पहुंचने तथा शिक्षाक्रम के मुद्दे को किसी को समझाने की राह में दो बाधाएं हैं। पहली, देशभर में होने वाली कार्यशालाओं/सेमिनारों

में शिक्षाक्रम से संबंधित सवाल तो उठाए जाते हैं पर समाज में, यहां तक कि शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े सीमित तबके के बीच भी किसी संवाद की प्रक्रिया को शुरू किए बिना ही वे दम तोड़ देते हैं। गोष्ठियां उन्हें चलताऊ समाधानों के नीचे दफन कर देती हैं। और यह सारा आयोजन सम्पन्न होने के साथ ही यह मुद्दा भी दफन कर दिया जाता है। दूसरा यह कि परिवर्तन के खिलाफ या उसके पक्ष में दिए गए किसी तर्क से कोई फर्क नहीं पड़ता। बहस शायद ही कभी ज्यादा सुविचारित तथा तर्कसंगत स्थिति के निर्माण के लिए की जाती हो। यह तो केवल जो लोग असहमति रखते हैं उन्हें अपने दिल का गुबार निकालने का अवसर मात्र उपलब्ध कराती है। अब तक तो इस तरह के दस्तावेज तैयार करने वाली एजेंसियां उन्हीं तर्कों के प्रति उदारता बरतती हैं जो उनके मूल दृष्टिकोण की ही पुष्टि करते हों।

मेरी नजर में कारण यह है कि हम इन दस्तावेजों की समालोचना नहीं करते। समालोचना एक पूरे परिप्रेक्ष्य में ही संभव है, जिसके तहत कोई प्रासंगिक सवाल उठाया जाता है या सार्वजनिक चर्चा के लिए अपने मत को उसके पक्ष में उचित दलील के साथ प्रस्तुत किया जाता है। एक समग्र परिप्रेक्ष्य के बिना और उचित दलील के अभाव में की गई टिप्पणियां भले कितनी भी विद्वतापूर्ण हों, सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त व्यक्तिगत पसंद-नापसंद से ज्यादा कुछ नहीं होती। निस्संदेह व्यक्तिगत पसंद-नापसंद की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती और किसी भी लोकतांत्रिक बहस में उनका अपना महत्व होता है। लेकिन ऐसा तभी संभव है जब वह एक तर्क के समर्थन में सामने आए। अन्यथा व्यक्तिगत पसंद-नापसंद के आधार पर कही गई बातें अलग-थलग पड़ जाती हैं और वे किसी संवाद का निर्माण नहीं कर पातीं। वे ऐसे एकांगी सुझाव के तौर

पर हवा में तैरती रहती हैं जिसकी एक मात्र सामर्थ्य उनके कहने वाले का पद तथा प्रतिष्ठा होती है। उसकी सामयिकता अथवा तर्क-संगति नहीं। इस किस्म की फौरी टिप्पणियां किसी गंभीर चर्चा से पहले ही इतनी बहुतायत में कर दी जाती हैं कि बहस के दौरान उठाए जाने वाले अधिकांश मुद्दे बहुत साधारण प्रतीत होने लगते हैं, जबकि वस्तुतः उनको गलत ढंग से समझा जा रहा होता है। और मुझे ऐसा लगता है कि हमारी शिक्षाक्रम संबंधी बहसों का बार-बार यही हथ्र हो रहा है।

इसलिए मैं सबसे पहले इसी मुद्दे पर चर्चा करना चाहूंगा कि किसी शिक्षाक्रम की योजना की समालोचना कैसे की जाए? कैसे इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन किया जाए? क्या एक दूसरे से अलग अलग विभिन्न भागों का स्वतंत्र तौर पर किया गया विश्लेषण इस उद्देश्य को पूरा कर सकता है या कि हमें इससे कुछ ज्यादा करने की जरूरत है? मैं यह मानता हूँ कि, यदि हम यह चाहते हैं कि लोग हमारी आलोचना को समझें तो हमें टुकड़ों के विश्लेषण करने मात्र से कुछ अधिक करने की जरूरत है। हमें उस परिप्रेक्ष्य को भी समझना होगा जिसके तहत हमने आलोचना की है। शिक्षाक्रम की योजना पर कोई सवाल उठाने से पहले मैं खासतौर से यही स्पष्ट करना चाहूंगा।

मेरे विचार में एक अच्छी शिक्षाक्रम-योजना (केरीकुलम फ्रेमवर्क) उन आधारभूत सिद्धांतों और मान्यताओं का ढांचा होती है जो पाठ्यक्रम संबंधी निर्णयों को विवेक संगत आधार प्रदान करते हैं। शिक्षाक्रम केवल एक ही सवाल, कि क्या पढ़ाया जाये, तक सीमित नहीं होता। उसे क्या पढ़ाया जाये के साथ, कैसे पढ़ाया जाये? किस प्रकार की स्थितियों में? किस प्रकार के शिक्षक द्वारा? कैसी सामग्री हो? मूल्यांकन कैसे हो? आदि सवालों के लिए भी दिशा देनी होती है। शिक्षाक्रम संबंधी सभी निर्णयों में सांस्कृतिक आदर्श, राजनीतिक आर्थिक परिदृश्य के प्रति माता-पिता का नजरिया और उनकी आकांक्षाएं भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। जैसा कि हम अक्सर दोहराते रहते हैं भारतीय समाज जटिल बहुरंगी सस्कृतियों वाला समाज है। इसलिए हमारे समाज में आदर्शों, परिप्रेक्ष्यों और आकांक्षाओं में भी अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है। ऐसे में ऐसे आधारभूत सिद्धांतों और मान्यताओं का चयन बहुत मुश्किल हो जाता है जो सबको स्वीकार्य हो सकें। लेकिन जितने ही मतभेद ज्यादा होते हैं और जितना ही ऐसी योजना को बना पाना जटिल होता है उतनी ही उसकी जरूरत बढ़ जाती है। समाज में इस किस्म की विविधता समानता, एकाधिक अस्मिता और राष्ट्रीय पहचान के सवालों को अतिरिक्त महत्व प्रदान कर देती है। किसी भी लोकतांत्रिक समाज में समानता का सबसे प्रमुख पहलू सबको समान स्तर की बेहतर

शिक्षा उपलब्ध कराना है। और शिक्षा के स्तर का किसी भी किस्म का मूल्यांकन करने के लिए कुछ स्वीकार्य आधार चाहिए जो एक अच्छी शिक्षाक्रम योजना ही उपलब्ध करा सकती है। यहां मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि शिक्षाक्रम योजना के उपलब्ध होने मात्र में ही सबको समान रूप से अच्छे स्तर की शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने की गारंटी निहित है। मैं तो इतना भर कहना चाहता हूँ कि सबको समान रूप से अच्छे स्तर की शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए शिक्षाक्रम योजना एक अनिवार्य शर्त है, निस्संदेह यही इसके लिए एक मात्र या पर्याप्त शर्त नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि जितनी समाज में विविधता है उतनी ही शिक्षाक्रम योजना की जरूरत बढ़ जाती है। अतः कुछ आधारभूत सिद्धांत जो हमारी शिक्षा को नींव दे सकें उन्हें तो खोजना ही होगा। बल्कि खोजने के बजाये इन्हें गत्यात्मक लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विकसित करना होगा। उन्हें एक बार खोज कर आने वाले समय के लिए स्थापित नहीं किया जा सकता। उन्हें लगातार जांचते और पुनः परिभाषित करते रहना होगा। साथ ही साथ मौजूदा समय में तर्क संगत निर्णय करते रहने के लिए उन्हें बेहतरीन सिद्धांतों के रूप में स्वीकार्य और इसीलिए सम्मानित भी होना चाहिए। किसी सिद्धांत के प्रति इस किस्म का खुलापन रखने के साथ-साथ उसमें पूरा विश्वास भी रख पाना आलोचनात्मक सोच तथा लोकतांत्रिक स्वभाव का मूल आधार है। एक अच्छी शिक्षाक्रम योजना में वह बात होनी ही चाहिये जो इस प्रकार का समालोचनात्मक सम्मान शैक्षिक जगत से प्राप्त कर सके।

स्कूली शिक्षा में हमारा सरोकार समझ तथा काम करने की क्षमता के विकास से होता है। समझ का अर्थ मूल्य तथा संवेदनशीलता के साथ-साथ ज्ञान के सभी प्रकारों से है। कार्य करने की क्षमता में विभिन्न प्रकार के कौशल शामिल होते हैं। कहा जा सकता है कि शिक्षाक्रम के निर्णय शैक्षिक कार्यक्रमों में ज्ञान, मूल्यों तथा कौशलों को शामिल करने या न करने के बारे में या फिर बच्चों में ये क्षमताएं कैसे विकसित की जाए, के बारे में होते हैं।

किसी भी शिक्षाक्रम योजना में बच्चों में विकसित किए जाने वाले ज्ञान, मूल्यों तथा कौशलों की सूची उपलब्ध कराने का प्रयास नहीं किया जा सकता। बच्चों को जो-जो पढ़ाना है वह सब किसी भी सूची में लिखा जाना संभव नहीं है। शिक्षाक्रम योजना के इस सूचीबद्ध स्वरूप के साथ बहुत सारी समस्याएं हैं। चूंकि भारत एक विविधताओं वाला समाज है, अतः यहां के रोजमर्रा के जीवन की जरूरतों में भी पर्याप्त भिन्नता है। हमारे समाज के सभी समुदायों तथा लोगों की जरूरतों तथा आकांक्षाओं को पूरा कर सके, ऐसी किसी सूची की कोई गुंजाइश बनती नहीं है। ऐसी किसी अत्यंत सारभूत सूची को बनाने के प्रयास की भी परिणति अंततः लगभग सभी चीजों के इसमें शामिल कर लेने के रूप में हो सकती है और

अंततः ऐसी सूची सर्वथा अनुपयोगी साबित होगी क्योंकि उसमें शामिल बातें परस्पर विरोधाभासी भी होंगी । यदि कोई संक्षिप्त और व्यवस्थित सूची बन भी पाई तो बहुत सारे लोगों की आकांक्षाओं को वह पूरा नहीं कर पाएगी और शिक्षा के क्षेत्र में वह अनेक लोगों की स्वायत्तता का हनन करने वाला उपकरण भी साबित होगी । कहने का आशय यह है कि शिक्षाक्रम योजना का उद्देश्य मात्र कुछ सांस्कृतिक सामाजिक गुणों व क्षमताओं को सूचीबद्ध करने से कहीं अधिक गहरा होना चाहिए । हम थोड़ा और गहराई में जा कर विद्यालयी शिक्षाक्रम योजना के लिए ज्ञान, मूल्य और कौशल के अपने चुनाव को प्रभावित करने वाली बातों पर विचार करें । यहां चुनाव का अर्थ सिर्फ दिए गए विकल्पों में से किसी एक को बेविचारे स्वीकारना भर नहीं है बल्कि यह स्वीकारने की क्रिया चुनाव तब बनती है जब सचेत रूप से व सतर्क रूप से की जाये । हमारे चुनाव का कारण ऐसा होना चाहिए जिसकी हमें उम्मीद हो कि वह लोगों द्वारा भी स्वीकार्य होगा । हमारे इस प्रकार के तर्कपूर्ण चुनावों के पीछे कुछ मान्यताएँ और व्यापक सिद्धांत होते हैं । शिक्षाक्रम से संबंधित ऐसी मान्यताओं या सिद्धांतों को चार भागों में बांट कर देखा जा सकता है ।

1. ऐसी मान्यताएं जो मनुष्य तथा समाज के बारे में हमारी समझ से बनी हों । इन मान्यताओं के तहत हम मनुष्य क्या हैं ? यदि जीवन का कोई उद्देश्य है, तो वह क्या है ? समाज तथा मनुष्य के बीच में क्या संबंध है ? आदि सवालों के जवाब तलाशेंगे ।

2. ऐसी मान्यताएं जो मानवीय समझ की प्रकृति तथा मानवीय कर्म की रीति से संबद्ध हों । इनके तहत हम ज्ञान क्या है ? ज्ञान के स्रोत क्या होते हैं ? ज्ञान प्राप्त कैसे किया जा सकता है ? मानवीय ज्ञान को कैसे व्यवस्थित किया जाए ? कौशल क्या हैं ? ज्ञान, कौशल तथा कार्य के बीच क्या संबंध है ? कौशल, कार्य तथा समाज के बीच में क्या संबंध है, आदि प्रश्नों का जवाब देंगे ।

3. मनुष्य के सीखने के बारे में हमारी समझ अर्थात् सीखना क्या है? मनुष्य के जीवन में सीखने का क्या स्थान है ? मनुष्य कैसे सीखता है ? आदि के बारे में हमारी मान्यताएँ ।

4. सीखने वाले के संदर्भ, इसमें बच्चे के परिवेश की सामाजिक सांस्कृतिक व भौगोलिक स्थितियां शामिल होती हैं । आरंभ यहीं से होगा । लेकिन इनका विस्तार राष्ट्र, विश्व तथा समूचे ब्रह्माण्ड तक हो सकता है ।

अक्सर यह कहा जाता है कि अंतिम दो विकल्पों का ज्ञान ही पर्याप्त है । शेष सारी बातों की तो शिक्षाक्रम के निर्णय में कोई भूमिका ही नहीं है । यदि इस बात को मान लिया जाए तो शिक्षाक्रम योजना को मनोविज्ञान तथा मौजूदा सामाजिक-राजनीतिक इच्छा के हवाले कर देना होगा । क्योंकि सामाजिक-ऐतिहासिक यथार्थ की कोई भी व्याख्या मनुष्य मात्र तथा समाज की प्रकृति के बारे में कुछ खास मान्यताओं को सामने रखे बिना संभव ही नहीं है । मनोविज्ञान हमें यह तो बता सकता है कि किस उम्र में क्या सिखाया जा सकता है और क्या नहीं । यह भी कि कैसे सिखायें तो बेहतर सिखा पायेंगे? पर अकेला मनोविज्ञान यह नहीं बता सकता कि क्या सिखाना चाहिए और क्यों ?

शिक्षाविदों सहित हम सभी इन चारों श्रेणियों में कुछ मूलभूत मान्यताएं रखते हैं और उन्हीं के अनुसार शिक्षाक्रम तथा शिक्षा संबंधी निर्णय करते हैं । इन आधारभूत मान्यताओं में भेद पर सर्वाधिक मूलभूत असहमति उभरती है । संवाद के जरिए अन्य किसी भी मतभेद को दूर किया जा सकता है लेकिन ऐसी असहमतियां कई बार दूर नहीं की जा

सकतीं जो कि विश्वासों, सिद्धांतों तथा प्रतिबद्धताओं के आधारभूत ढांचे में से उभरती हैं । इसलिए किसी भी विविधतापूर्ण समाज में शिक्षा के लिए शिक्षाक्रम योजना बनाते समय सबसे पहले इन मान्यताओं पर रुख स्पष्ट होना जरूरी होता है । इन मूल सिद्धांतों के बारे में रुख को व्यापक पाठक वर्ग तथा शैक्षिक समुदाय के अनुमान के लिए छोड़ देना एक ओर जहां उलझनों को जन्म देगा, वहीं यह उनसे बहुत अधिक भरोसे की मांग भी करता है ।

मैं इसी परिप्रेक्ष्य में दस्तावेज के पहले दो अध्यायों की समीक्षा करूंगा । उसके बाद इन दो अध्यायों में उठाए गए विभिन्न मुद्दों पर कुछ टिप्पणियां करूंगा ।

दस्तावेज मानव तथा समाज के साथ उसके संबंध को कैसे

**मैं तो इतना भर कहना चाहता हूँ कि सबको समान अच्छे स्तर की शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए शिक्षाक्रम योजना एक अनिवार्य शर्त है, निस्संदेह यही इसके लिए एक मात्र या पर्याप्त शर्त नहीं है । अतः यह कहा जा सकता है कि जितनी समाज में विविधता है उतनी ही शिक्षाक्रम योजना की जरूरत बढ़ जाती है । आधारभूत सिद्धांतों को गतिशीलता के साथ विकसित करते रहना होगा । उन्हें एक बार खोज कर आने वाले समय से अलग स्थापित नहीं किया जा सकता । उन्हें लगातार जांचते और पुनः परिभाषित करते रहना होगा । साथ ही साथ मौजूदा समय में तर्क संगत निर्णय करते रहने के लिए उन्हें बेहतरीन सिद्धांतों के रूप में स्वीकार्य और इसीलिए सम्मानित भी होना चाहिए ।**

देखता है ? दस्तावेज के अनुसार, “मानव एक उपयोगी संपत्ति और मूल्यवान राष्ट्रीय संसाधन है जिसे गतिशीलता के साथ साथ संवेदनशीलता और परिचर्या के साथ संपोषित करने, प्रशिक्षित करने और विकसित करने की आवश्यकता है ।” यह उद्धरण दस्तावेज में मानव के प्रति नजरिये का सार है । कई जगह पाठक यह महसूस करता है कि मनुष्य की कुछ उदार परिभाषा भी की गई है । जैसा कि ‘बच्चा: अपने ज्ञान के निर्माता के रूप में’ या फिर ‘शिक्षार्थी की विशेषताएं’ खंड में हैं । लेकिन इस तरह की बातें शिक्षाशास्त्रीय पहलुओं की चर्चा करते समय ही कही गई है । इनका प्रभाव शिक्षा के उद्देश्यों अथवा शिक्षा के सामाजिक-राजनीतिक पहलुओं की चर्चा में परिलक्षित नहीं होता । दस्तावेज अपनी राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि के बजाय मनोविज्ञान के तौर पर ज्यादा उदार दिखाई देता है । दस्तावेज के दो अलग-अलग खंडों में मानव के बारे में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण को स्वीकारने से दस्तावेज में एक तनाव उभरना चाहिए था । लेकिन यहां इन दो भिन्न-भिन्न नजरियों के विभिन्न शिक्षा शास्त्रीय प्रभावों को लेकर उदासीनता ही नजर आती है और ऐसा कोई तनाव यहां दिखाई नहीं देता । दस्तावेज के अनुसार नागरिक को सबसे पहले तो राष्ट्रीय संसाधन के ही रूप में देखा जाना चाहिए फिर चाहे संपोषित हो या नहीं ।

लेकिन सभी नागरिकों को राष्ट्रीय संसाधन के रूप में देखने में हर्ज क्या है ? क्या हमें राष्ट्रीय संसाधन माना जाए, यह बहुत राष्ट्रभक्ति पूर्ण बात नहीं है ? क्या कोई व्यक्ति देश के लिए उपयोगी है, यह गर्व की बात नहीं है ? मुझे यहां कोई शंका नहीं । यदि कोई व्यक्ति देश के लिए उपयोगी है तो निस्संदेह यह बहुत गर्व की बात है । लेकिन स्वयं को राष्ट्रीय संसाधन मात्र के रूप में देखने पर कुछ खो जाता है । इससे व्यक्ति के निज की उपयोगिता छिन जाती है । उसे एक संसाधन के रूप में देखा जाने लगता है । और यदि वह उस कसौटी पर खरा नहीं उतरता है तो अनुपयोगी हो जाता है । कम से कम दो कारणों से यह विचार अनुचित है । पहला तो यह कि किसी भी लोकतंत्र में व्यक्ति तथा राष्ट्र के बीच संबंध गतिशील होता है । एक नजरिया तो यह हो सकता है कि हम सभी सम्मिलित रूप से मानव मात्र हैं और सांस्कृतिक तथा जैविक कारणों से मिल जुल कर हम एक राष्ट्र तथा समाज बनाते हैं ताकि हमारी यह सम्मिलित पहचान बनी रहे और संवर्धित हो । यहां मानव की अवधारणा प्राथमिक है, और मेरे विचार में लोकतंत्र की आदर्श स्थिति वही है जिसमें मानव की अवधारणा प्राथमिकता पर हो । इस तरह हम अपनी व्यक्ति की पहचान के अनुरूप समाज तथा राष्ट्र का निर्माण करते हैं । इसका यह अर्थ भी नहीं कि मानव समाज से पहले आता है और फिर अपने इच्छित समाज की रचना करता है । यह संबंध इससे कहीं ज्यादा जटिल है क्योंकि मानव की धारणा

अपने आप में भी समाज के बीच में ही संभव है । लेकिन सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से हम उस स्तर पर पहुंच गए हैं जहां हम स्वयं अपना तथा अपने समाज का आलोचनात्मक विश्लेषण कर पाते हैं । मनुष्य को प्राथमिक तौर पर एक संसाधन मात्र मान लेने से यह स्वतंत्रता जाती रहती है । मानव को प्राथमिक तौर पर राष्ट्रीय संसाधन मान लेने पर राष्ट्र प्राथमिक धारणा हो जाता है । इससे एक असंगत स्थिति पैदा होती है क्योंकि मानव जीवन के महत्व को स्वीकारे बिना राष्ट्र की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती । इस असंगति से बचने के लिए राष्ट्रीय लक्ष्यों पर भरोसा करना बहुत जरूरी हो जाता है । ऐसे में राष्ट्रीय लक्ष्यों को पाना मानव की धारणा को बेहतर ढंग से समझने के लिए नहीं होता बल्कि एक ऐसे पवित्र लक्ष्य के रूप में लिया जाने लगता है जिसके लिए कि नागरिकों का उपयोग किया जा सकता है । यहां समाज राष्ट्रीय लक्ष्य निर्धारकों और उन लक्ष्यों को पाने के लिए उपयोगी संसाधनों बीच में विभाजित हो जाता है । इस तरह से राष्ट्र समाज की पुनर्व्यवस्था संसाधनों तथा संसाधनों के उपयोगकर्ताओं के रूप में हो जाती है । यह स्थिति समानता को दरकिनार करती है और यथास्थिति को बनाए रखती है । इसलिए, यद्यपि प्रत्येक नागरिक राष्ट्र के लिए एक संसाधन है लेकिन यह उसकी द्वितीय विशेषता है । प्राथमिक तौर पर तो वह एक मनुष्य मात्र है । मानव को संसाधन मानने पर व्यक्ति का महत्व शासकों द्वारा निर्धारित कार्य-योजना को प्राप्त करने में उसकी उपयोगिता तक सीमित हो जाता है । यदि वह कार्य योजना बाजार द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था में ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाना है तो ज्यादा पैसा कमाने वाला व्यक्ति ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाएगा । जो व्यक्ति इसमें अपना योगदान नहीं दे पायेगा वह बोझ मान लिया जाएगा । जबकि मानव को प्राथमिक धारणा मानने पर मानव का इस किस्म का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता ।

इस दस्तावेज की केन्द्रीय अवधारणा मानव को संसाधन मानती है । अध्याय एक और दो के विभिन्न मुद्दों पर टिप्पणी करते हुए यह स्वतः स्पष्ट हो जाएगा, इसलिए मैं यहां इसे बताने के लिए अधिक श्रम नहीं करूंगा । फिर भी एक बात का उल्लेख जरूरी है । दस्तावेज आरंभ में ही यह कहता है कि मानव एक उपयोगी और मूल्यवान संपत्ति है । इसमें यह निहित है कि वह बोझ तो नहीं है । लेकिन जैसे जैसे यह शिक्षा के लक्ष्यों तथा महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर जोर देने लगता है, छोटे परिवार का नियम महत्वपूर्ण होता जाता है । पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों? जब मानव एक मूल्यवान संपत्ति है तो फिर वह जितनी ज्यादा हो उतनी ही बेहतर क्यों नहीं ? जनसंख्या नियंत्रण की क्या जरूरत है ?

निष्कर्षतः एक लोकतांत्रिक तथा समतावादी समाज में मानव की यह परिभाषा स्वीकार्य नहीं है । यह विचार इसलिए भी अपर्याप्त

है क्योंकि यह न तो मानव की मौलिक विशेषताओं को संबोधित करता है और न ही मानव के होने में समाज की भूमिका को ही रेखांकित करता है । बच्चे को शिक्षित करने के लिहाज से यह दोनों ही बातें अत्यधिक महत्व रखती हैं । इसलिए यह कहना अकारण नहीं है कि इस दस्तावेज में मानव के बारे में कोई सारगर्भित, सार्थक तथा स्वीकार्य वक्तव्य नहीं है । इसी तरह दस्तावेज में बयान की गई मानवीय ज्ञान की समझ भी विखंडित है । यह समझना बहुत मुश्किल नहीं होना चाहिये कि किसी भी शिक्षाक्रम योजना को एक ज्ञान मीमांसा की दरकार होती है ।

ज्ञानमीमांसा शिक्षण-अनुभवों के चुनाव को तथा उनके क्रम को प्रभावित करती है । अर्थात् बच्चों को क्या सिखायें व किस क्रम में सिखायें, यह तय करने में ज्ञानमीमांसा की मदद चाहिये । उदाहरणतः प्राथमिक स्तर पर सभी विषयों के अंतःसंबंध को समझना ज्ञान मीमांसा के संदर्भों के बिना संभव नहीं । यह कैसे बताया जा सकता है कि वैज्ञानिक समझ इतिहास बोध से कुछ भिन्न है ? यदि दोनों में कोई अंतर है तो वह क्या है ? दो विषयों को पढ़ाने में इस अंतर की क्या भूमिका होती है ? यहां तक कि बहुचर्चित वैज्ञानिक प्रकृति क्या है, यह भी ज्ञानमीमांसा की मदद के बिना नहीं समझाया जा सकता है । इस तरह शिक्षाक्रम योजना बनाने में ज्ञान मीमांसकीय परिप्रेक्ष्यों की तो उपेक्षा की ही नहीं जा सकती । शिक्षाक्रम योजना के संदर्भ में ज्ञान की प्रकृति व उससे जुड़े ज्ञान के वर्गीकरण के प्रश्न महत्वपूर्ण होते हैं ।

यह दस्तावेज ज्ञानमीमांसा की पूरी तरह अवहेलना करता है । यह दी गई सूचियों पर सरसरी नजर डालने मात्र से स्पष्ट हो जाता है । शिक्षा के मुख्य क्षेत्रों तथा सामान्य उद्देश्यों को परिभाषित करने के लिए दी गयी सूचियों में पर्याप्त अति व्याप्तियों तथा दोहराव है । दूसरे भाग की सूचियों में तो ऐसा बहुत ज्यादा हुआ है ।

केवल मनोवैज्ञानिक तर्कों से इन मुद्दों को सुलझाया नहीं जा सकता । चूंकि दस्तावेज का अपना कोई ज्ञानमीमांसात्मक परिप्रेक्ष्य नहीं है इसलिए पहले अध्याय में दी गई सूची एक सूची मात्र ही रह जाती है । यह शिक्षाक्रम संबंधी निर्णय करने में कोई दृष्टिकोण अथवा सिद्धांत बनाने के लिए कोई आधार उपलब्ध नहीं कराती।

हालांकि दस्तावेज सीखने के परिप्रेक्ष्य की जरूरत के बारे में सजग दिखाई देता है । इस परिप्रेक्ष्य के महत्वपूर्ण बिन्दुओं को बताने के लिए दूसरे अध्याय (शिक्षार्थी की विशिष्टताएं) में सराहनीय प्रयास किया गया है । इस दिशा में 'बच्चा: अपने ज्ञान के निर्माता के रूप में' अध्याय से भी मदद मिल जाती है ।

कई जगह ऐसा प्रतीत होता है कि दस्तावेज सोसियल कॅन्स्ट्रक्टिविस्ट मनोविज्ञान का पक्षधर है किन्तु इस मनोविज्ञान के

पीछे की ज्ञानमीमांसकीय मान्यताओं का वहां कोई संकेत नहीं है । इसलिए यद्यपि यह मनोविज्ञान कुछ शिक्षाशास्त्रीय संदर्भों में मार्गदर्शन देने के लिहाज से उपयोगी साबित हो सकता है लेकिन शिक्षाक्रम के संस्थापन तथा विषय क्षेत्रों को रेखांकित करने और उनके पारस्परिक महत्व को समझने के लिए ज्ञान के वर्गीकरण में (जो कि विषय-क्षेत्र बनाने के लिए जरूरी है) में यह कोई मदद नहीं करता । दस्तावेज हावर्ड गार्डनर के मल्टिपल इंटेलिजेंसेज के सिद्धांत तथा यूनेस्को की रिपोर्ट से प्रसिद्धि प्राप्त "सीखने के चार स्तंभों" का भी उपयोग करता है । मल्टिपल इंटेलिजेंसेज के सिद्धांत का उपयोग केवल संवेगात्मक ज्ञान की जरूरत पर जोर देने के लिए किया गया है । इस बात का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि दस्तावेज लेखक की राय में, कॅन्स्ट्रक्टिविस्ट मनोविज्ञान संवेगात्मक विकास के लिए उपयुक्त तरह से काम नहीं कर सकता इसलिए मल्टिपल इंटेलिजेंसेज के सिद्धांत को यहां लाया गया है । यदि ऐसा है तो कॅन्स्ट्रक्टिविस्ट मनोविज्ञान की अनुपयुक्तता को स्पष्ट नहीं किया गया है । हालांकि मल्टिपल इंटेलिजेंसेज के सिद्धांत पर आधारित शिक्षाक्रम की बात बहुत हो रही है । पर यह सभी चर्चा बहुत उलझी एवं अस्पष्ट है । इसी तरह शिक्षा के यूनेस्को प्रसिद्ध चार स्तंभ भी यहां डांवाडोल दिखाई देते हैं । यह आलेख इन दो सिद्धांतों की आलोचना करने के लिए नहीं है, बल्कि मैं कहना सिर्फ यह चाहता हूं कि यह दस्तावेज हमारी स्कूली शिक्षा का भवन खड़ा करने के लिए पर्याप्त मजबूत जमीन उपलब्ध नहीं कराता है । इन दोनों सिद्धांतों का उल्लेख और "संवेगात्मक साक्षरता" जैसे शब्दों का प्रयोग 'शिक्षार्थी की विशिष्टताएं' में कुछ हद तक बने परिप्रेक्ष्य को धुंधलाने का ही काम करते हैं । नए सिद्धांतों तथा वाक्यांशों की अविचारित स्वीकृति, फिर चाहे वे सिद्धांत पश्चिम से ही क्यों न आए हों, हमेशा अच्छी नहीं होती ।

शिक्षार्थी के संदर्भ में जिस चौथे पहलू का उल्लेख किया गया है, वह पहलू दस्तावेज में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । अध्याय में शिक्षाक्रम के जिन कथित सरोकारों का उल्लेख किया गया है, मूलतः वे सामाजिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य से उत्पन्न हैं और उसी की जानकारी देते हैं । लेकिन दस्तावेज में उस परिप्रेक्ष्य का कोई व्यवस्थित विश्लेषण विकसित करने का प्रयास करने की बजाय उन्हें गिनाने पर ज्यादा ध्यान दिया गया है । परिणामस्वरूप यह सरोकार फौरी मुद्दे नजर आते हैं जिनका कोई एक सूत्र नहीं है । दस्तावेज इन सरोकारों के जरिए कुछ आधारभूत सिद्धांत स्थापित करने का भी प्रयास करता है लेकिन दर्शन अथवा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य के अभाव में वह इस प्रयास में सफल नहीं होता । दस्तावेज का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसमें परिप्रेक्ष्य को पकड़ने का

प्रयास किया गया है लेकिन समस्या यह है कि परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण बहुत खराब है।

सरोकारों की यह सूची शिक्षाक्रम योजना के लिए कोई निर्देशक सिद्धांत उपलब्ध नहीं कराती। यह भी समझ से परे है कि इस सूची में सरोकारों को शामिल करने का पैमाना क्या है? सूचना तकनीकी द्वारा पेश की गई चुनौतियां दस्तावेज का सरोकार कैसे हैं? जबकि राष्ट्रीय राजनीति में अपराध तथा भ्रष्टाचार के बढ़ते प्रभाव का उल्लेख इनमें नहीं किया गया है। बढ़ती सांप्रदायिकता का सरोकारों की सूची में उल्लेख क्यों नहीं किया गया? कहने का आशय यह कि सुव्यवस्थित सिद्धांत के बिना कोई भी सूची शिक्षाक्रम के विकास के लिए पर्याप्त आधार उपलब्ध नहीं करा सकती। इसकी बजाय वर्ष 1988 में वर्तमान दस्तावेज के पूर्ववर्ती अवतार 'द नेशनल करिकुलम फार एलिमेन्टरी एंड सैकण्डरी एजुकेशन' में जो सूची दी गई, हालांकि उसके साथ भी इस तरह की दिक्कतें हैं, फिर भी वह अपेक्षाकृत बेहतर कही जा सकती है।

अब तक के विश्लेषण का निष्कर्ष यह कि इस दस्तावेज के पार शिक्षा को कोई दर्शन नहीं है। अतः मानव समाज के रिश्तों पर कुछ भी सार्थक बात नहीं आई है। ज्ञानमीमांसा से भी इसे कोई दरकार नहीं है अतः शिक्षाक्रम की व्यवस्था का भी कोई आधार यह नहीं देता। हालांकि इसमें एक मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य गढ़ने का प्रयास किया गया है लेकिन उसमें भी संगति का अभाव है। सामाजिक संदर्भ का विश्लेषण सुव्यवस्थित सिद्धांत के अभाव में अधूरा है। इस तरह यह एक व्यवस्थित दस्तावेज नहीं है और यह कोई बहस भी छेड़ने में अक्षम है, किसी प्रकार का सम्मान अर्जित करना तो दूर की बात है।

### दस्तावेज की विषयवस्तु पर टिप्पणियां

विभिन्न मुद्दों पर दस्तावेज जो रख अपनाता है उसमें अनेक दिक्कतें हैं। स्थानाभाव के कारण उन सभी का यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। मैं उनमें से कुछ मुद्दों पर टिप्पणियां करूंगा। इन उदाहरणों से स्पष्ट होगा कि मैंने परिप्रेक्ष्य का अभाव किसे कहा है।

## 1. शिक्षाक्रम के सरोकार

1.1 “‘पाठ्यचर्या’ (शिक्षाक्रम) विकास समाज में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों की प्रतिक्रिया स्वरूप गुणात्मक सुधार के लिए वास्तव में एक स्थाई अनुसंधान की प्रक्रिया है।” (पेज 6) “‘भूमंडलीकरण के प्रभाव के प्रति प्रतिक्रिया’ (पेज 10) “‘सूचना और संचार प्रौद्योगिकी की चुनौतियों का सामना’ (पेज 11) इन तमाम उद्धरणों में और इनके अलावा भी कई जगह “समाज में होने वाले परिवर्तन” नेतृत्वकारी नजर आते हैं। व्यक्ति जो कि शिक्षार्थी भी हैं, केवल और केवल प्रतिक्रिया करने वाले की हैसियत में ही दिखाई देता है। शिक्षार्थी केवल प्रतिक्रिया करता है, वह कर्ता नहीं है। शिक्षार्थी को स्वतः सक्रिय शख्सियत के रूप में नहीं देखा गया। वह भी किसी परिवर्तन की परिकल्पना कर सकता है या कोई परिवर्तन आरंभ कर सकता है ऐसा सोचा भी नहीं गया। उसे परिवर्तनकारी या समाज में किसी परिवर्तन के स्रोत के रूप में देखा ही नहीं गया। उसे तो केवल समाज में होने वाले परिवर्तनों के प्रति प्रतिक्रिया करने में सक्षम बनाना है। इस तरह यह अन्य लोगों द्वारा किए गए परिवर्तन के साथ चलने का शिक्षाक्रम नजर आता है। शिक्षार्थी से उसकी अपनी कल्पना का समाज बनाने की अपेक्षा नहीं

की गयी है। उसे तो केवल चीजें जिस रूप में हैं, उस रूप में उनके साथ सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करते रहना है। समानता का दस्तावेज में बार-बार उल्लेख है, और यह एक सकारात्मक बात है, लेकिन कोई भी शिक्षाक्रम जो समानता की बात करता है वह मनुष्य को एक संसाधन मात्र नहीं बता सकता और किसी भी नियंत्रण से परे, किन्हीं कारणों से होने वाले परिवर्तनों पर आंख मूंद कर भरोसा करने के लिए नहीं कह सकता।

यदि जिनके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जा रहा है वे समाज में समानता चाहते हैं तो उन्हें ऐसे परिवर्तन का अगुआ बनने की क्षमता अर्जित करनी होगी। दस्तावेज में स्वीकार की गई मनुष्य की अवधारणा तथा समानता के आदर्श के बीच कुछ गड़बड़ है। क्या शिक्षाक्रम विकास की प्रक्रिया हमारे समाज को न्यायपूर्ण व समानतावादी समाज में परिवर्तित करने की गतिशील तथा सतत

तलाश के रूप में दिखाई देती है जिसमें कि मनुष्य की क्षमताओं का निरन्तर विस्तार होता हो ? लेकिन ऐसा नहीं होता ।

राष्ट्रीय शिक्षाक्रम योजना 1988 का पहला सरोकार “शिक्षा तथा अवसर की समानता” था (निस्संदेह शिक्षाक्रम योजना सरोकारों के आधार पर विकसित होती दिखाई देती है ) । नए दस्तावेज में उसका स्थान “सामंजस्य पूर्ण समाज के लिए शिक्षा” ने ले लिया है। हालांकि सामंजस्य का जिक्र मात्र दो स्थानों पर किया गया है। पहला सुविधाविहीन बच्चों के लिए शिक्षा के संदर्भ में और दूसरा साथ जीने के लिए सीखना के संदर्भ में । अन्य भागों में स्थान-स्थान पर केवल अवसरों की समानता का जिक्र किया गया है । ऐसे में यह स्पष्ट नहीं होता कि प्राथमिक लक्ष्य का है ? सामंजस्य या न्याय ? न्याय तथा समानता के जरिए सामंजस्य ? क्या सामंजस्य के लिए न्याय अथवा समानता को दांव पर लगाया जा सकता है? यह सवाल उभरते हैं क्योंकि नई योजना में अधिक महत्वपूर्ण मूल्य (समानता) को कम महत्वपूर्ण मूल्य (सामंजस्य) के लिए हटा दिया गया है ।

दस्तावेज “वंचित और सुविधाहीन तथा विकलांग बच्चों को अन्य विद्यार्थियों के समकक्ष लाने के लिए....” उन सबको एक साथ रख देता है । इन सभी को विशेष देखभाल की जरूरत है लेकिन प्रत्येक को किस तरह की खास देखभाल की जरूरत है और उनके पीछे के कारण एक दूसरे से बिल्कुल अलग अलग हैं। दस्तावेज वंचित और सुविधाहीन बच्चों को विकलांग बच्चों के साथ रख कर क्या साबित करना चाहता है ? क्या वंचित सामाजिक ऐतिहासिक कारणों से अवसर पाने से वंचित है ? या कि वे किसी किस्म की जन्मजात शारीरिक अथवा मानसिक अक्षमता के कारण वंचित है ?

संसक्त समाज के अस्पष्ट शीर्षक के तहत “नाम मात्र की समानता, प्रत्येक के लिए एक जैसा व्यवहार जैसी निरर्थक और चौकस टिप्पणियां यह अहसास कराती हैं कि यहां कुछ गलत है। अत्यधिक अलोकतांत्रिक समाज भी अपने सिद्धांत और व्यवहार में संसक्त हो सकते हैं । क्या यह बेहतर नहीं होता कि शिक्षा के जरिए एक लोकतांत्रिक, समानतावादी तथा बहुलतावादी समाज की रचना पर जोर दिया जाता । दस्तावेज में विद्यालयी शिक्षा पर बहुलतावादी समाज के प्रभाव पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया है ।

1.2 भूमंडलीकरण को “प्रौद्योगिकीय बदलावों, भू-राजनैतिक विकास तथा बाजार द्वारा नियंत्रण की एक प्रभावी विचारधारा का परिणाम” बताया गया है । लेकिन भूमंडलीकरण से निपटने के लिए सुझाए गए तरीकों में इसके सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू बाजार द्वारा समाज के नियंत्रण की प्रभावी विचारधारा को

सर्वथा नजरअंदाज किया गया है । सामाजिक जरूरतों तथा विचारों से संचालित होने की बजाय बाजार द्वारा समाज के नियामक सिद्धांत उपलब्ध कराने का विचार ही उदार मानवतावादी शिक्षा के विचार का विरोधी है । यह भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा खतरा है । जब ज्यादा से ज्यादा पैसा कमाना ही एक मात्र मूल्य रह गया हो, ऐसे दौर में केवल इसी अर्थ में सफलता को सुनिश्चित करने वाली क्षमता अर्जित करने का अर्थ पूर्णतः आत्मसमर्पण कर देना होगा । भूमंडलीकरण के प्रति उचित प्रतिक्रिया तो बाजार को एक नियामक के रूप में स्वीकारने के खतरों को समझना होगा । इस खतरे का मुकाबले करने में मनुष्य को उपयोगिता की दृष्टि से देखना छोड़ना पड़ेगा । उसके अंतर्निहित रूप से ही मूल्यवान होने में विश्वास व समानता के लिए प्रतिबद्धता, के बिना बाजार के नियंत्रण को तोड़ना संभव नहीं है । बाजार द्वारा नियंत्रित नैतिकता के खतरों को व उसके भोंडेपन को समझे बिना भूमंडलीकरण की लहर में बहने से बचना संभव नहीं है ।

1.3 दस्तावेज में मान लिया गया है कि अन्वेषण, समस्या-समाधान, निर्णय लेने की प्रवृत्ति, अंतर्क्रियात्मक सामूहिक अधिगम, आपसी संबंधों के ताने बाने की समझ आदि सूचना और संचार प्रौद्योगिकी से संबद्ध हैं । सूचना और संचार प्रौद्योगिकी इन चीजों को बढ़ावा देती है । ऐसा मानने के क्या आधार हैं ? यह समझना कठिन है। इनमें से कुछ विचार तो उतने ही पुराने हैं जितनी शिक्षा की परम्परा और कुछ अन्यो पर भी सूचना प्रौद्योगिकी के अस्तित्व में आने के बहुत पहले से चर्चा की जाने लगी थी। सूचना प्रौद्योगिकी का इनसे क्या लेना देना है ? क्या इसने किसी भी रूप में अन्वेषण, समस्या-समाधान अथवा निर्णय लेने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है ? सूचना प्रौद्योगिकी का शिक्षा पर यदि कोई प्रभाव है तो वह क्या है ? अपने सारे ताम-झाम के साथ कम्प्यूटर कैसे किसी सुलिखित पुस्तक अथवा श्यामपट्ट और चाक से बेहतर शैक्षणिक उपकरण है? क्या इसके बारे में दस्तावेज सुनी सुनाई बातों के अलावा कोई ठोस तर्क प्रस्तुत कर सकता है ? किसी अन्य की तरह इस दस्तावेज ने भी आलोचनात्मक विश्लेषण लिए बिना ही सूचना प्रौद्योगिकी के भव्य रथ पर छलांग लगा दी है ।

1.4 जीवन दक्षताओं की अवधारणा भी वैचारिक धुंध निर्माण करने वाली अवधारणा है । यह चिंतन की स्पष्टता के लिए नहीं गढ़ी गई है। बल्कि चिंतन की दरिद्रता को छुपाने के लिए गढ़ी गई अवधारणा है। “जीवन-दक्षताओं का मतलब है अपने को परिस्थिति के अनुरूप इस तरह ढालना और ऐसा सकारात्मक व्यवहार करना जिससे व्यक्ति रोजमर्रा के जीवन के तकाजों को पूरा कर सके और चुनौतियों का सामना कर सके । इसके लिए उसमें स्वास्थ्य और सामाजिक आवश्यकताओं जैसे विविध क्षेत्रों से संबंधित कौशलों

का होना जरूरी है। इस परिभाषा से क्या समझा जाए? खासतौर से यदि कुछ प्रमुख जीवन-दक्षताओं के उदाहरणों में समस्या समाधान, आलोचनात्मक चिंतन, संप्रेषण, आत्मबोध, तनाव झेलने की क्षमता, रचनात्मक सोच, अंतर्कार्मिक संबंध और परानुभूति को शामिल कर लिया जाए? दस्तावेज के रचयिताओं से कुछ ऐसे उदाहरण भी पूछे जा सकते हैं जो जीवन-कला के तहत न आते हों। अन्यथा जीवन दक्षताओं की ऐसी अवधारणा का क्या महत्व है जिसमें शिक्षा के सभी उद्देश्य शामिल हों? यह ज्ञानमीमांसात्मक परिप्रेक्ष्य के अभाव में उत्पन्न हुई एक समस्या का उदाहरण है।

1.5 परिप्रेक्ष्य का अभाव विविध पाठ्यचर्यागत सरोकारों का समेकन (1.2.9) तथा पाठ्यचर्या के बोझ को कम करना (1.2.11) खंडों में भी परिलक्षित होता है। दस्तावेज में पर्यावरण शिक्षा, उपभोक्ता शिक्षा, एडस के बारे में शिक्षा, इत्यादि को ज्ञान के स्वतंत्र एवं अलग अलग क्षेत्र मानने की विचारहीन प्रवृत्ति की उचित ही आलोचना की गयी है। लेकिन यहां भी वह सूचनाओं के संग्रह तथा ज्ञान के क्षेत्र के बीच भेद करता हुआ दिखाई नहीं देता। इस समस्या का समाधान इन कथित महत्वपूर्ण क्षेत्रों (क्षेत्र किस तरह के?) के बारे में सूचनाओं को पहले से मौजूद क्षेत्रों जैसे विज्ञान, सामाजिक ज्ञान, आदि से जोड़ देने मात्र में निहित नहीं है। इसका समाधान निहित है विज्ञान तथा सामाजिक ज्ञान की प्रकृति को समझने और फिर इस तरह से सिखाने में कि पर्यावरण तथा विज्ञान से जुड़े मुद्दों के बारे में स्वतः ही उनमें एक समझ विकसित हो सके। इसी तरह 'पाठ्यचर्या के बोझ को कम करना' के तहत दस्तावेज अधिगम की अंतर्वस्तु (सूचनाओं के संग्रह) से हटने पर उचित ही जोर देता है। लेकिन यहां भी 'सीखने के लिए शिक्षा' के आशय को स्पष्ट नहीं किया गया है, जो कि मात्र प्रक्रिया पर जोर देने से नहीं हो सकता। क्या सीखा जा रहा है, जब तक उसके सापेक्षिक महत्व का कोई मापदंड निर्धारित नहीं किया जाता है तब तक पाठ्यचर्या के बोझ की समस्या हल नहीं हो सकती।

1.6 विवेक, संवेदना और मूल्य के बीच क्या अंतर्सम्बन्ध है? दस्तावेज को पढ़ते हुए यह सवाल भी बार बार मन में उठता है। यह महज संयोग ही है कि दस्तावेज में 'संवेदनात्मक साक्षरता' की तर्ज पर 'तार्किक-साक्षरता' एवं 'नैतिक-साक्षरता' का राग

नहीं अलापा गया है। लेकिन मूल्यों की सूची में अथवा मल्टिपल इंटेलीजेंसेज के विचार की फौरी चर्चा में विवेक, नैतिक विकास तथा संवेदना के बीच क्या संबंध है, यह उद्घाटित नहीं होता। यदि दस्तावेज में कारण के विकास तथा अन्य के प्रति संवेदना के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता तो यह मूल्यों के विकास तथा संवेदनात्मक विकास का ज्यादा सार्थक रास्ता बन सकता था।

**यह तीन उद्धरण यहां सिर्फ यह बताने के लिए दिए गए हैं कि 'पंथनिरपेक्षता' शब्द का सम्बन्ध कुछ ऐसे विचारों से है जिनका धर्म या ईश्वर से कोई लेना देना नहीं है। जाहिर है कि दस्तावेज का इससे कोई सरोकार नहीं है कि इस मुद्दे पर विभिन्न शब्दकोष अथवा एनसाइक्लोपीडिया क्या कहते हैं। यह तो इस अवधारणा को नई तरह से परिभाषित करना चाहता है।**

1.7 दस्तावेज में मौलिक कर्तव्यों का जिक्र किया गया है। प्रोफेसर कृष्ण कुमार ने एक बार कहा था, मौलिक कर्तव्यों का सिद्धांत ही गडबड़ है। एक व्यक्ति के मौलिक अधिकार तो हो सकते हैं, लेकिन उसी तर्ज पर मौलिक कर्तव्य नहीं हो सकते। क्योंकि हमारे स्वाधीनता संग्राम के पीछे जो महान विचार काम कर रहे थे, उनके अनुपालन और फलीभूत होने के लिए जरूरी है कि व्यक्ति उन विचारों को जानें। यह इस पर निर्भर करता है कि व्यक्ति को उन्हें जानने का अवसर मिलता है या नहीं। जब तक किसी व्यक्ति को उन्हें जानने का अवसर नहीं मिलता तो वे विचार कितने ही महत्वपूर्ण

क्यों न हों, उस व्यक्ति से उनकी अनुपालना की अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए इन्हें मौलिक अधिकारों की तरह अनुल्लंघनीय नहीं माना जा सकता। ऐसे में 'मौलिक कर्तव्यों' में मौलिक शब्द का क्या अभिप्राय है? वे किस अर्थ में मौलिक हो सकते हैं?

1.8 मौलिक कर्तव्यों में शासकों द्वारा बनाई जाने वाली नीतियों के आलोचनात्मक विश्लेषण को शामिल नहीं किया गया है, न ही एक नागरिक के तौर पर सबके मौलिक अधिकारों और लोकतंत्र की रक्षा को ही इनमें शामिल किया गया है। ऐसी स्थिति में मौलिक कर्तव्यों पर जोर दिए जाने में ऐसी साजिश का संदेह पैदा होता है जिसके तहत अपनी लोकतांत्रिक भागीदारी तथा अधिकारों की मांग करने वालों की बजाय ऐसे नागरिक तैयार किए जा सकें जिन्हें आसानी से शासित किया जा सके। ऐसा लगता है कि दस्तावेज इस समस्या से अनभिज्ञ नहीं है, इसलिए वह मौलिक अधिकारों को सामान्य सूची में शामिल करने की सिफारिश करता है।

1.9 शिक्षा के उद्देश्यों में हमेशा मानव संसाधन के विकास को प्राथमिकता दी गई है ताकि राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके। स्वतंत्रता व आलोचनात्मक विचारणा का यदि कहीं जिक्र



किया भी गया है तो उसे दूसरे दर्जे पर ही रखा गया है। जबकि होना इसके विपरीत चाहिए था।

## 2. दस्तावेज इन मुद्दों पर जोर देता है

2.1 इस सूची को अधिकतम विस्तार देने का स्पष्ट प्रयास किया गया है। यह प्रयास स्वागत योग्य है। सूची में अनेक सकारात्मक बातें हैं जिनका विरोध नहीं किया जा सकता। लेकिन इसमें अनेक समस्याएं भी हैं।

2.2 इसमें आंतरिक व्यवस्था के लिए आधार स्वरूप का कोई सिद्धांत नहीं है। कई जगह यह शिक्षा के उद्देश्यों की सूची नजर आती है। यह शैक्षिक व्यवस्था या योजना के प्रति प्रतिबद्धताओं की सूची नजर आती है। क्या एक सुव्यवस्थित दस्तावेज में इन दोनों के बीच का भेद स्पष्ट नहीं होना चाहिये ?

2.3 मैंने पहले भी रेखांकित किया है कि यहां प्राथमिकता राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानव संसाधन का विकास करने को है। व्यक्ति से अपेक्षा यह है कि वह “जीवन पर्यन्त सीखते हुए तथा मूलभूत जीवन कौशलों को विकसित करने तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखने, दिन प्रतिदिन की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए इमोशनल इंटेलीजेंस प्राप्त” करता रहे। “जीवन कौशलों” तथा “इमोशनल इंटेलीजेंस” के विचारों पर मैंने पहले भी टिप्पणी की है। यह विचार स्पष्ट तथा सटीक नहीं है। जब भावात्मक विकास की बात आती है तो मल्टिपल इंटेलिजेंस के सिद्धांत में से भावात्मक-मेधा (इमोशनल इंटेलीजेंस) को उठा लिया जाता है। पर अन्य सभी चीजों के लिए विभिन्न प्रकार के सिद्धांतों का उपयोग होता है। ये सब एक दूसरे से असंगत भी हो सकते हैं। फैशन के अनुसार सभी विचारों को उठा लेने भर से संगत सिद्धांत नहीं बन जाते हैं। दस्तावेज यह बात नहीं समझता। पुनः यहां ‘मुकाबला करने’ पर भी एक सरोकार के रूप में जोर दिया गया है। किसी भी सक्रिय परिवर्तनकारी को आलोचनात्मक विचारक होना चाहिए। वास्तव में दस्तावेज दरअसल “सामाजिक मान्यताओं और सामाजिक घटनाओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि” और “व्यक्ति तथा समाज के शब्दों तथा कार्यों में देखे गए विरोधाभासों पर समालोचनात्मक आलोचना” का जिक्र तो करता है, लेकिन केवल शिक्षार्थी की विशिष्टताओं संबंधी खंड में शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में इनकी जरूरत नहीं समझता। केवल बच्चे के विकास के चरणों में इस का जिक्र है। विवेक एवं स्वतंत्र चिंतन के लिए शैक्षिक उद्देश्यों में कोई स्थान नहीं है।

तर्कसंगत तथा आलोचनात्मक सोच सीखने की रणनीति एवं भाषा शिक्षा के लिए तो उपयोगी माने गये हैं पर तर्क संगत तथा

आलोचनात्मक सोच को शिक्षा का उद्देश्य मानने का कोई संकेत यहां नहीं मिलता।

इसी तरह विवेचन तथा स्वतंत्र विचारणा का भी जिक्र अध्यापन की कार्यनीतियों व भाषा शिक्षा के सन्दर्भ में तो किया गया है, लेकिन शैक्षिक उद्देश्यों के रूप में नहीं। मुख्य क्षेत्रों तथा शिक्षा के उद्देश्यों की सूची में जिनका जिक्र है वे ‘जीवन कौशल’, ‘संवेदनात्मक बौद्धिकता’ और ‘वैज्ञानिक सोच’ हैं। अकेली वैज्ञानिक सोच आलोचनात्मक तथा स्वतंत्र विचारणा के बिना शिक्षा के उद्देश्य के रूप में अपर्याप्त क्यों है? कहा जा सकता है कि आलोचनात्मक विचारणा तो वैज्ञानिक सोच में ही निहित है। लेकिन सच तो यह है कि यदि ठीक से समझा जाए तो वैज्ञानिक सोच आलोचनात्मक विचारणा के विभिन्न प्रकारों में से एक प्रकार मात्र है। जैसे कि दार्शनिक विश्लेषण आलोचनात्मक विचारणा का एक प्रकार हो सकता है। लेकिन उसे वैज्ञानिक सोच नहीं कहा जा सकता। कला समीक्षा को वैज्ञानिक सोच तो नहीं कहा जा सकता लेकिन आलोचनात्मक विचारणा के तहत इसे रखा जा सकता है। इस तरह वैज्ञानिक सोच पर अतिरिक्त जोर देकर आलोचनात्मक तथा तर्कसंगत सोच के एक और अधिक व्यापक क्षेत्र को यूँ ही छोड़ दिया गया है।

2.4 छोटे परिवार की व्यवस्था को सूची में शामिल किए जाने से सूची का महत्व कम ही हुआ है क्योंकि यह शिक्षा का उद्देश्य नहीं है और न इसे शिक्षा का उद्देश्य बताया ही जा सकता है। यह तो एक नारा मात्र है, कोई मूल्य भी नहीं है।

इस तरह की अनेक समस्याएं हैं जिन्हें दस्तावेज में पंक्ति दर पंक्ति रेखांकित किया जा सकता है। ऊपर बताई गई बातें ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिए कि यह दस्तावेज स्वीकार करने योग्य नहीं है। आगे मैं केवल एक मुद्दे की और चर्चा करूंगा। अध्याय दो में मौजूद कुछ अन्य समस्याओं की सूची उपसंहार के रूप में दी जा रही है। सूची में केवल वक्तव्य दिए गए हैं, स्थानाभाव के कारण उनके पक्ष में तर्क नहीं दिए हैं।

2.5 उपशीर्षक ‘समतावाद, लोकतंत्र और पंथ निरपेक्षता’ में सारी विवेचना अतार्किक एवं विरोधाभासी है। इसमें समतावाद और लोकतंत्र की कोई बात ही नहीं की गई। इसमें तो केवल पंथनिरपेक्षता की एक खास किस्म की व्याख्या की गई है। दस्तावेज में अनेक स्थानों पर समानता का जिक्र किया गया है। इसके बावजूद यह लोकतांत्रिक तथा बहुलतावादी समाज में शिक्षा के उद्देश्यों को नहीं तलाशता। जबकि इन्हें ही केन्द्रीय विचार होना चाहिए था और दस्तावेज को इन्हीं के आधार पर खड़ा होना चाहिए था और

लोकतांत्रिक तथा समतावादी समाज के लिए उपयुक्त शिक्षा की परिभाषा की जानी चाहिए थी ।

दस्तावेज के अनुसार 'वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य में पंथनिरपेक्षता का अर्थ धर्म को नकारना समझा जाता है, जो गलत है ।' "अब जो एक नया विचार सामने आया है, वह है सभी धर्मों के प्रति समान आदर, सर्वधर्म समभाव अथवा पंथ निरपेक्षता ।" 'आक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी के अनुसार सेक्यूलर का अर्थ है "ऐसा विचार जिसमें नैतिकता, शिक्षा इत्यादि धर्म पर आधारित न हो"।

यह तीन उद्धरण यहां सिर्फ यह बताने के लिए दिए गए हैं कि 'सेक्यूलरिज्म' शब्द का सम्बन्ध कुछ ऐसे विचारों से है जिनका धर्म या ईश्वर से कोई लेना देना नहीं है । जाहिर है कि दस्तावेज का इससे कोई सरोकार नहीं है कि इस मुद्दे पर विभिन्न शब्दकोष अथवा एनसाइक्लोपीडिया क्या कहते हैं । यह तो इस अवधारणा को नई तरह से परिभाषित करना चाहता है । इसलिए यह देखना जरूरी हो जाता है कि दस्तावेज पंथ निरपेक्षता के बारे में समझा कर क्या हासिल करना चाहता है । समतावाद, लोकतंत्र और पंथनिरपेक्षता शीर्षक में उठाए गए मुद्दों को इस संदर्भ में रेखांकित किया जा सकता है । यहां कहा गया है कि

1. हमारा प्रयास शिक्षा के द्वारा 'सभी धर्मों के प्रति समान आदर' को बढ़ावा देना होना चाहिए ।
2. 'सर्वधर्मसमभाव' और पंथनिरपेक्षता दोनों एक ही है ।
3. धर्म मिथक, रूढ़ियों व कर्मकाण्डों से रहित अपने मूल स्वरूप में नई पीढ़ी में भौतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य स्थापित करने का काम करता है ।
4. केवल वही शिक्षा देश तथा मानवता की सेवा कर सकती है जो ईश्वर के प्रति आस्था को बढ़ावा देती है ।

किसी भी सरकारी शिक्षा व्यवस्था का यह प्रयास होना चाहिए कि वह अपने शिक्षाक्रम के द्वारा सभी धर्मों को समान रूप से समझने में सहायता करे, किन्तु इसमें विद्यार्थी की आस्था तथा विश्वास की स्वतंत्रता पर कोई दबाव नहीं आना जाना चाहिए । लेकिन यह तभी संभव है जब कक्षा में बिना किसी पूर्वाग्रह के सभी धर्मों का आलोचनात्मक विश्लेषण हो और अंत में विद्यार्थियों को

अपनी राय बनाने की स्वतंत्रता हो । लेकिन इससे विद्यार्थियों में सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा का भाव पैदा नहीं हो सकता । इसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी अलग अलग धर्मों को अपना सकते हैं या कि उनमें सभी धर्मों के प्रति अविश्वास भी पैदा हो सकता है । सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा का भाव तो केवल आरोपित किया जा सकता है । किसी भी बहुलतावादी समाज में सरकारी

**सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा का भाव तो केवल आरोपित किया जा सकता है । किसी भी बहुलतावादी समाज में सरकारी शिक्षा प्रणाली इसे उचित नहीं ठहरा सकती । (यह तो दस्तावेज में बहु चर्चित वैज्ञानिक सोच की अवधारणा के भी बिल्कुल उलट है ।) कहने की जरूरत नहीं है कि यह आलोचनात्मक विचारणा के भी पूर्णतः विरुद्ध है ।**

शिक्षा प्रणाली इसे उचित नहीं ठहरा सकती । (यह तो दस्तावेज में बहु चर्चित वैज्ञानिक सोच की अवधारणा के भी बिल्कुल उलट है ।) कहने की जरूरत नहीं है कि यह आलोचनात्मक विचारणा के भी पूर्णतः विरुद्ध है । मन की अवस्था की दृष्टि से सोचें तो कोई भी सच्चा आस्थावान व्यक्ति सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा का भाव रख ही नहीं सकता । कोई भी व्यक्ति धर्म को एक तरफ हटा कर सभी मनुष्यों के प्रति तो समान सम्मान का भाव रख सकता है, हालांकि इस परीक्षा में भी कोई नास्तिक ही ज्यादा खरा उतरेगा, तब भी कोई आस्तिक व्यक्ति भी सैद्धांतिक रूप से

इस बात को मान सकता है । लेकिन धर्म को किनारे करते हुए भी मनुष्यों के प्रति सम्मान रखना और सभी धर्मों के प्रति समान श्रद्धा रखना एक ही बात नहीं है । कोई भी सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था सभी धर्मों से समान दूरी रखते हुए केवल इतना कर सकती है कि अपनी निर्णय प्रक्रिया को धर्म के दखल से दूर रखे ।

'सर्वधर्म समभाव' का अर्थ सभी धर्मों के प्रति समान रुख से है । अब यह समान रुख समान सकारात्मक भी हो सकता है, समान नकारात्मक भी और समान उदासीनता का भी हो सकता है । लेकिन यहां इसका तात्पर्य सबके प्रति समान सहानुभूति के रूप में लिया गया है । पंथ निरपेक्षता दरअसल सेक्यूलर के ज्यादा नजदीक का शब्द है । कोई भी राज्य तब पंथनिरपेक्ष होता है जब वह अपने नीति निर्माण को किसी किस्म की धार्मिक मान्यताओं से प्रभावित न होने दे । इस रुख में न सम्मान है और न असम्मान ही, बल्कि सभी धार्मिक मान्यताओं को किनारे रखने के लिए एक प्रतिबद्धता निहित है । इस तरह सर्वधर्मसमभाव एक समानार्थक शब्द हो सकता है, यदि इसका अर्थ सबके प्रति समान उदासीनता से लिया जाए तो, पर तब भी वस्तुतः यह पंथनिरपेक्षता ही है । अन्य कोई संभावना पंथनिरपेक्षता के संदर्भ में नहीं देखी जा सकती ।

दस्तावेज में एकाधिक स्थानों पर यह संकेत किया गया है कि नैतिकता धर्म पर आश्रित है। या कि धर्म नैतिक शिक्षा में सहायक हो सकता है। इन दोनों ही मान्यताओं का कोई आधार नहीं है। इस बारे में विपुल साहित्य उपलब्ध है। यहां केवल कुछ बिन्दुओं का जिक्र भर कर दें। पहला ऐसा कोई भी शोध नहीं हुआ है कि आस्तिक लोग नास्तिकों से ज्यादा नैतिक चरित्रवान हुए हैं। दूसरा यह धार्मिक, नैतिक, अलौकिक तथा मृत्यु के बाद जीवन के मिथ्या विश्वासों पर आश्रित है। यह एक अपरिष्कृत तथा उपयोगितावादी किस्म का विचार है जो आलोचनात्मक सोच के विरुद्ध है। तीसरा इससे लोगों पर सत्ता का अधिकार धर्मगुरुओं के हाथ में चला जाता है जिसका कि अक्सर दुरुपयोग होता है। और हां मिथक, रुढ़ियों और कर्मकाण्डों से रहित धर्म के मूल स्वरूप जैसी कोई चीज भी नहीं है।

महात्मा गांधी का उद्धरण यहां सर्वथा अप्रासंगिक है और यहां इसे जिस उद्देश्य से रखा गया इसका अर्थ उससे कुछ अलग ही ध्वनित होता है, यह सर्वथा असंगति है, भले ही यह महात्मा का ही वक्तव्य क्यों न हो। इसका आशय यह है कि कोई नास्तिक नागरिक देश तथा मानवता की कोई सेवा नहीं कर सकता। इस तरह के अनर्गल वक्तव्य को गलत साबित करना भी समय की बर्बादी होगी।

प्रथम दो अध्याय के कुछ और बिन्दुओं की सूची

1. न्यूनतम अधिगम स्तर की यहां कोई जरूरत नहीं है। सभी अनुच्छेद इसके पक्ष के तर्कों को काटने का ही काम करते हैं।
2. सामान्य केन्द्रिक (कॉमन कोर) शिक्षाक्रम और राष्ट्रीय पहचान के मुद्दों का निर्वाह केन्द्रीय मुद्दों के रूप में किया गया है। यह गलत नजरिया है और इससे कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय पहचान के विकास और सामान्य केन्द्रिक जैसे विचारों को लोकतांत्रिक व मानवतावादी मूल्यों तथा विवेक के विकास पर पूर्णतः अवलम्बित होना चाहिए। इसके अलावा कोई चारा भी नहीं है। लेकिन दस्तावेज इस समस्या से अनभिज्ञ है।

3. शिक्षा के उद्देश्यों को बहुत गलत ढंग से बरता गया है। इनमें व्यवहारवाद पर अत्यधिक जोर है (28,29)।
4. ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र एवं उनके एकीकरण पर जिस तरह की टिप्पणी की गई है दरअसल वह इतना निश्चित नहीं है। मानवीय ज्ञान की कुछ श्रेणियां हो सकती हैं जिसके

मात्र सुविधा की बजाय कुछ अन्य बहुत मौलिक आधार होंगे। यदि दस्तावेज मल्टिपल इंटेलेजेंसेज के सिद्धांत को मानता है जिसका कि कई जगह उल्लेख किया गया है तो इसे यह भी मानना चाहिए कि मानवीय ज्ञान के सभी क्षेत्रों की प्रकृति एक ही नहीं हो सकती और इसलिए उसे एकीकृत नहीं किया जा सकता।

5. इस तरह के वाक्य अचंभित करने वाले हैं कि “स्कूली शिक्षाक्रम का यह दायित्व है कि वह देश से गरीबी, नैतिक कमजोरी आदि समस्याओं को कम करे और यदि संभव हो तो उन्हें समाप्त कर दे।” नैतिक दुर्बलता तथा गरीबी को साथ साथ रखना ही घोर संवेदनहीनता है। आम जनता की गरीबी सत्ता के शोषण

का परिणाम है न कि लोगों की अनैतिक गतिविधियों का परिणाम है। यह भी बाजारवादी सोच ही है जो गरीब को यह बताती है कि वे उन्हीं के समान है जो नैतिक रूप से दुर्बल हैं।

6. शिक्षा में उद्देश्यों की सूची का भी कोई संघटक सिद्धांत नहीं है।
7. कहा जा सकता है कि यह संघटक सिद्धांत से रहित एक अच्छी और विस्तृत सूची है। इसे मूल सिद्धांतों की एक ज्यादा संक्षिप्त और सुगठित सूची बनाया जा सकता था। इस तरह की सूची ज्यादा प्रतिबद्धता लिए होती और उसके पक्ष में ज्यादा तर्क दिए जा सकते थे।
8. शिक्षाक्रम के क्षेत्रों का संगठन भी संतोषजनक नहीं है।
9. भाषा, गणित विज्ञान और सामाजिक ज्ञान की समझ सटीक नहीं है। गणित की प्रयोगशाला जैसे विचार गणित की प्रकृति को जाने बिना ही दिए जा सकते हैं। इसलिए विज्ञान का दर्शन .... जैसे वक्तव्यों के पक्ष में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता।
10. ज्ञान के जिस सिद्धांत का यहां उपयोग किया गया है उसके व्यापक विश्लेषण की जरूरत है।◆